१०

करण सिद्धान्त : भाग्य-निर्माण की प्रकिया

☐ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

जैन-दर्शन की दृष्टि में कम भाग्य विधाता है, कर्म के नियम या सिद्धान्त विधान है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म ही भाग्य है। जैन कर्म ग्रंथों में कर्म-बंध और कर्म फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वर्णन है। उनमें जहाँ एक ओर यह विधान है कि बंधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नहीं छूटता है, वहीं दूसरी ओर उन नियमों का भी विधान है, जिनसे बंधे हुए कर्म में अनेक प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म बंध से लेकर फल-भोग तक की इन्हीं अवस्थाओं व उनके परिवर्तन की प्रक्रिया को शास्त्र में करण कहा गया है। कर्म बंध व उदय से मिलने वाले फल ही भाग्य कहा जाता है। कर्म में परिवर्तन होने से उसके फल में, भाग्य में भी परिवर्तन हो जाता है। अतःकरण को भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। महापुराण में कहा है—

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरेश्चेती, पयार्यकर्मवेधस् ।।४३७।।

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कर्म ही वास्तव में ब्रह्म या विधाता है।

करण आठ हैं :

व्याकरण की दृष्टि से करण उसे कहा जाता है जिसकी सहायता से क्रिया या कार्य हो। दूसरे शब्दों में जो क्रिया या कार्य में सहायक कारण हो। उक्त आठ प्रकार की क्रिया से कर्म पर प्रभाव पड़ता है और उनकी अवस्था व फलदान की शक्ति में परिवर्तन होता है। अतः इन्हें करण कहा गया है। कर्म-शास्त्रों में आगत इन करणों का विवेचन वनस्पति विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र के नियमों व दृष्टान्तों द्वारा मनोविज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. बन्धन करण :

कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बंध कहा जाता है। यहाँ कर्म का बंधना या संस्कार रूप बीज का पड़ना बंधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ग्रंथि निर्माण भी कहा जा सकता है। इसी कर्म-बीज के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उदय या फलस्वरूप प्राणी सुख-दुःख रूप फल भोगता है। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया भला पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ-कर्म परमाणु आत्मा के लिए सुफल सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए कुफल दुर्भाग्यदायी होते हैं। अतः जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते हैं उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ आदि पाप प्रवृत्तियों—अशुभ कर्मों से बचना चाहिये। क्योंकि इनके फल-स्वरूप दुःख मिलता ही है और जो सौभाग्य चाहते हैं उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। यह प्राकृतिक विधान है, इसे कोई नहीं टाल सकता। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फलस्वरूप हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता में राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता में द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणों पर क्या उन गुणों की अभि-व्यक्ति से सम्बन्धित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं तथा जितनी-जितनी राग-द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है उतनी-उतनी बंधन के टिकने की सबलता-निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करता है उतना ही कम कर्म बांधता है। जो समभाव रखता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है। अतः बंध से बचना है तो राग-द्वेष से बचना चाहिये।

नियम :

(१) कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति है।

(२) जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है।

(३) बन्धे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वयं को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा नहीं दिला सकती।

२. निधत्त करण :

कर्म बन्ध की वह दशा जिसमें कर्म इतना दृढ़तर बंध जाय कि उसमें स्थिति और रस में फेरफार तथा घट-बढ़ हो सके परन्तु उसका आमूल-चूल परिवर्तन, संक्रमण और उदीरणा न हो सके, उसे निधत्त करण कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की यह स्थिति किसी प्रकृति या क्रिया में अधिक रस लेने, प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति करने से होती है। जिस प्रकार किसी पौधे को बार-बार उखाड़ा जाय या हानि पहुँचाई जाये तो वह सूख सा जाता है और उसमें विशेष फल देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अथवा जिस प्रकार बार-बार अफीम खाने से या शराब पीने से अफीम खाने या शराब पीने की आदत इतनी दृढ़तर हो जाती है कि उसका छूटना कठिन होता है भले ही मात्रा में कुछ घट-बढ़ हो जाय। अथवा इन्द्रिय सुख के आधीन हो कोई बार-बार मिथ्या आहार-बिहार करे, जिससे उसके जलंदर, भगंदर, क्षय जैसी दुसाध्य बीमारी हो जाय जो जन्म भर मिटे ही नहीं केवल उसमें कुछ उतार-चढ़ाव आ जाय। इसी प्रकार जिस क्रिया में योग अर्थात् मन-वचन-काया की प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति की अधिकता हो एवं रस की अर्थात् राग-द्वेष आदि कषाय की अधिकता हो तो कर्म की ऐसी स्थिति का बन्ध हो जाता है कि जिसमें कुछ घट-बढ़ तो हो सके परन्तु उसका रूपांतरण व दूसरी प्रकृति रूप परिवर्तन न हो सके, उसके फल को भोगना ही पड़े।

अतः हमें किसी विषय-सुख का बार-बार भोग करने एवं अधिक रस लेने से बचना चाहिये ताकि कर्म का दृढ़तर बन्ध न हो।

नियम : निधत्त कर्म में संक्रमण व उदीरणा नहीं होती है।

३. निकाचित करण :

कर्म-बन्ध की वह दशा जिसमें कर्म इतने दृढ़तर हो जायं कि उनमें कुछ भी फेर-फार न हो सके, जिसे भोगना ही पड़े, निकाचना कहलाती है। कर्म की यह दशा निधत्तकरण से अधिक बलवान होती है। कर्म की यह स्थिति अत्यधिक गृद्धता से होती है। जिस प्रकार पौधे को खाद, रस आदि पूर्ण अनुकूलता मिलने से उसके फल में स्थित बीज का ऐसा पोषण होता है कि उसके उगने की शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। अथवा किसी रोगी द्वारा बार-बार गलती दोहरायी जाय व परहेज इतना बिगाड़ दिया जाय कि रोग ऐसी स्थिति में पहुँच जाय कि उसमें कमी आवे ही नहीं। या कैंसर जैसे असाध्य रोग का हो जाने से उसके भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है, वैसे ही जिस कर्म को भोगे बिना छुटकारा न हो, वह निकाचित कर्म है। जिस प्रकार कैंसर आदि असाध्य रोग से बचने, दूर रहने में ही अपना हित है कारण कि उसका एक बार हो जाने पर फिर मिटना असम्भव है, इसी प्रकार कर्म बन्ध की ऐसी दशा से बचने या दूर रहने में ही अपना हित है—जिसे बिना भोगे छुटकारा असम्भव है। इस घातक दशा से बचना तब ही सम्भव है जब किसी प्रवृत्ति में अत्यन्त गृद्ध न हो। अत्यधिक आसक्त न हो।

निधत्त और निकाचित कर्म-बन्ध की ये दोनों दशाएँ असाध्य रोग के समान हैं परन्तु निधत्त से निकाचित कर्म अधिक प्रबल व दुःखद है। अतः इनसे बचने में ही निज हित है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नियम :

निकाचित कर्म में संक्रमण व उदीरणा, उद्वर्तन, अपवर्तन करण नहीं होते हैं। कोई-कोई आचार्य सामान्य सा उद्वर्तन-अपवर्तन होना मानते हैं।

४. उद्वर्तना करण :

जिस क्रिया या प्रवृत्ति से बन्धे हुए कर्म की स्थिति और रस बढ़ता है, उसे उद्वर्तना करण कहते हैं। ऐसा ही पहले बांधे हुए कर्म-प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति करने तथा उसमें अधिक रस लेने से होता है। जैसे पहले किसी ने डरते-डरते किसी की छोटी सी वस्तु चुरा कर लोभ की पूर्ति की फिर वह डाकुओं के गिरोह में मिल गया तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ़ गई तथा अधिककाल तक टिकाऊ भी हो गई, वह निधड़क डाका डालने व हत्याएँ करने लगा। इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस का बढ़ना उद्वर्तना कहा जाता है। जिस प्रकार खेत में उगे हुए पौधे को अनुकूल खाद व जल मिलने से वह हृष्ट-पुष्ट होता है, उसकी आयु व फलदान शक्ति बढ़ जाती है इसी प्रकार पूर्व में बन्धे हुए कर्मों को उससे अधिक तीव्ररस, राग-द्वेष, कषाय का निमित्त मिलने से उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति बढ़ जाती है। अथवा जिस प्रकार किसी ने पहले साधारण सी शराब पी, इसके पश्चात् उसने उससे अधिक तेज नशे वाली शराब पी तो उसके नशे की शक्ति पहले से अधिक बढ़ जाती है या किसी मधुमेह के रोगी ने शक्कर या कुछ मीठा पदार्थ खा लिया फिर वह अधिक शक्कर वाली मिठाई खा लेता है तो उस रोग की पहले से अधिक वृद्धि होने की स्थिति हो जाती है। इसी प्रकार विषय सुख में राग की वृद्धि होने से तथा दुःख में द्वेष बढ़ने से तत्संबंधी कर्म की स्थिति व रस अधिक बढ़ जाता है। अतः हित इसी में है कि कषाय (रस) को वृद्धि कर पाप कर्मों की स्थिति व रस को न बढ़ाया जाय और पुण्य कर्म को न घटाया जाय।

नियम :

(१) सत्ता में स्थित कर्म की स्थिति व रस से वर्तमान में बध्यमान कम की स्थिति व रस का अधिक बन्ध होता है, तब ही उद्वर्तन करण सम्भव है।

(२) संक्लेश (कषाय) की वृद्धि से आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की सब प्रकृतियों की स्थिति का एवं सब पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है। विशुद्धि (शुभ भावों) से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है।

५. अपवर्तना करण :

पूर्व में बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और रस में कमी आ जाना अपवर्तना-करण है। पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के, पश्चात् जीव यदि फिर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अच्छे कर्म (काम) करता है तो उसके पहले बाँधे हुए कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है जैसे श्रेणिक ने पहले, क्रूर कर्म करके सातवीं नरक की आयु का बंध कर लिया था परन्तु फिर भगवान् महावीर की शरण व समवशरण में आया, उसे सम्यक्त्व हुआ जिससे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप हुआ तो शुभ भावों के प्रभाव से उसकी बांधी हुई सातवीं नरक की आयु घटकर पहले नरक की ही रह गई। इसी प्रकार कोई अच्छे काम करे और उच्च स्तरीय देव गति का बन्ध करे फिर शुभ भावों में गिरावट आ जाय तो वह उच्च स्तरीय देवगति के बन्ध में गिरावट आकर निम्न स्तरीय देवगति का हो जाता है। अथवा जिस प्रकार खेत में स्थित पौधे को प्रतिकूल खाद, ताप व जलवायु मिले तो उसकी आयु व फलदान की शक्ति घट जाती है। इसी प्रकार सत्ता में स्थित कर्मों का बन्ध कोई प्रतिकूल काम करे तो उसकी स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है। अथवा जिस प्रकार पित्त का रोग नींबू व आलूबुखारा खाने से, तीव्र क्रोध का वेग जल पीने से, ज्वर का अधिक तापमान बर्फ रखने से घट जाता है इसी प्रकार पूर्व में किए गए दुष्कर्मों के प्रति संवर तथा प्रायश्चित आदि करने से उनकी फलदान शक्ति व स्थिति घट जाती है।

अतः विषय-कषाय की अनुकूलता में हर्ष व रति तथा प्रतिकूलता में खेद (शोक) व अरति न करने से अर्थात् विरति (संयम) को अपनाने में ही आत्म-हित है।

नियम :

संक्लेष (कषाय) की कमी एवं विशुद्धि (शुभ भावों) की वृद्धि से पहले बन्धे हुए कर्मों में आयु कर्म को छोड़ कर शेष सब कर्मों की स्थिति एवं पाप प्रकृतियों के रस में अपवर्तन (कमी) होता है। संक्लेश की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के रस में अपवर्तन होता है।

६. संक्रमण करण :

पूर्व में बन्धे कर्म की प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपांतरित हो जाना संक्रमण करण कहा जाता है। वर्तमान में वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं। इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैंकड़ों जातियाँ पैदा की हैं। वर्तमान वनस्पति विज्ञान में इस संक्रमण प्रक्रिया को संकर-प्रक्रिया कहा जाता है जिसका अर्थ संक्रमण करना ही है। इसी संक्रमण करण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा, संकर गेहूँ के बीज पैदा किए गए हैं। इसी प्रकार पूर्व में बंधी हुई कर्म-प्रकृतियाँ वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाती हैं, संक्रमित हो जाती हैं। अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रस्त अंग हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अंधे व्यक्ति को सूझता कर देते हैं, रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना देते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर निर्बलता, कब्ज या अतिसार में बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एवं (२) स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उनके दु:खद फल से बचा जा सकता है।

यह संक्रमण या रूपान्तरण कर्म के मूल भेदों में परस्पर में नहीं होता है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, ज्ञानावरण, वेदनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। यही बात अन्य सभी कर्मों के विषय में भी जाननी चाहिये। संक्रमण किसी एक ही कर्म के अवान्तर में उत्तर प्रकृतियों में अपनी सजातीय अन्य उत्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर में संक्रमण हो सकता है अर्थात् सातावेदनीय असातावेदनीय रूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दोनों मोहनीय कर्म की ही अवान्तर या उप-प्रकृतियां हैं—परन्तु इनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता है। इसी प्रकार आयु कर्म की चार अवान्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं हो सकता है अर्थात् नरकायु का बंध कर लेने पर जीव को नरक में ही जाना पड़ता है। वह तिर्यंच, मनुष्य, देव गति में नहीं जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त में निरूपित संक्रमण-प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण (Sublimation of mental energy) कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है—१. अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में और २. शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान में कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। यह उदात्तीकरण संक्रमण करण का ही एक अंग है, एक अवस्था है।

आधुनिक मनोविज्ञान में उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा प्रचुर प्रकाश डाला गया है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या उदात्तीकरण, मन की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र या महाकाव्य, भाव भक्ति में लगाकर किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्तीकरण प्रक्रिया

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का उपयोग व प्रयोग कर उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तोड़-फोड़ करने वाले अपराधी-मनोवृत्ति के छात्रों एवं व्यक्तियों को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवृत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी कार्य में लग जाते हैं, अनुशासनप्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतियों को सद् प्रकृतियों में संक्रमण या रूपान्तरण करने के लिए आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगों की वास्तविकता को उसके वर्तमान जीवन की दैनिक घटनाओं के आधार पर समझाया जाये। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता में आबद्ध करने वाला है, परिणाम में नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जड़ता व विकार पैदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पैदा कर चित्त को अशांत बनाने वाला है। संघर्ष, द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व पैदा करने वाला है। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। सुख में दुःख अन्तर्गर्भित रहता ही है। भोगों के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगों के सुख क्षणिक-अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय में स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दुःख से छुटकारा पाने के लिये वर्तमान के क्षणिक सुख के भोग का त्याग करने की प्रेरणा दी जाय। इससे आत्म-संयम की योग्यता पैदा होती है फिर दूसरों को सुख देने के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरों की सेवा में लगाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरों की निःस्वार्थ सेवा से जो प्रेम का रस आता है उसका आनन्द सुखभोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख में वे दोष या कमियाँ नहीं होतीं जो भोगजनित सुख में होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कर्म-सिद्धान्त में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में सम्भव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों में ही सम्भव माना है। दोनों ही विजातीय प्रकृतियों के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते हैं। संक्रमणकरण और रूपान्तरकरण दोनों ही में यह सैद्धान्तिक समानता आश्चर्यजनक है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवृत्तियों से होने वाले दुःख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवृत्तियों से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उपचार में बड़ा कारगर उपाय है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों में असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों का शुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण होना जीवन के लिए उपयोगी व सुखद होता है, इसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियों का अशुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण व संक्रमण होना जीवन के लिए अनिष्टकारी व दुःखद होता है। सज्जन भद्र व्यक्ति जब कुसंगति, कुत्सित वातावरण में पड़ जाते हैं और उससे प्रभावित हो जाते हैं तो उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उनका मानसिक एवं नैतिक पतन हो जाता है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट, रोग, अशान्ति, रिक्तता, हीन भावना, निराशा, अनिद्रा आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है।

कर्म-शास्त्र के अनुसार संक्रमण पहले बंधी हुई प्रकृतियों (आदतों) का वर्तमान में बध्यमान (बंधने वाली) प्रकृतियों में होता है अर्थात् पहले प्रवृत्ति करने से जो प्रकृति (आदत) पड़ गई—बंध गई है वह प्रकृति (आदत) वर्तमान में जो प्रवृत्ति की जा रही है उससे अभी जो आदत (प्रकृति) बन रही है, उस आदत का अनुसरण-अनुगमन करती है। तथा इस नवीन बनने वाली आदतों के अनुरूप पुरानी आदतों में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ—पहले किसी व्यक्ति को प्रवृत्ति-प्रकृति ईमानदारी की है परन्तु वर्तमान में वह बेईमानी की प्रवृत्ति कर रहा है तो उसकी प्रकृति (आदत) बेईमानी की प्रकृति (आदत) में बदल जाती है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति में पहले बेईमानी की आदत पड़ी हुई है और वर्तमान में ईमानदारी की प्रवृत्ति कर रहा है, इससे ईमानदारी की आदत का निर्माण हो रहा है तो पहले की बेईमानी की आदत ईमानदारी में बदल जाती है, यह सर्वविदित है। शरीर और इन्द्रिय भीतर से अशुचि के भंडार हैं एवं नाशवान हैं। इस सत्य का ज्ञान किसी को है। परन्तु अब वह शरीर व इन्द्रिय सुख के भोग में प्रवृत्त हो, मोहित हो जाता है तो उसे शरीर व इन्द्रिय सुन्दर व स्थायी प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसका पूर्व का सच्चा ज्ञान आच्छादित हो जाता है, दूसरे शब्दों में कहें तो अज्ञानरूप हो जाता है अर्थात् ज्ञान अज्ञान में रूपान्तरित, संक्रमित हो जाता है। आगे भी उसका मोह जैसे-जैसे घटता-बढ़ता जायेगा उसकी इस अज्ञान की प्रकृति में भी घट-बढ़ होती जायेगी, अपवर्तन-उद्वर्तन होता जावेगा और मिथ्यात्व रूप मोह का नाश हो जायेगा तो अज्ञान का नाश हो जायेगा और ज्ञान प्रकट हो जायेगा। वही अज्ञान, ज्ञान में बदल जायेगा। इसी प्रकार क्षोभ (क्रोध) और क्षमा, मान और विनय, माया और सरलता, लोभ और निर्लोभता, हिंसा और दया, हर्ष और शोक, शोषण और पोषण, करुणा और क्रूरता, प्रेम और मोह, जड़ता और चिन्मयता, परस्पर में वर्तमान प्रकृतियों के अनुरूप संक्रमित-रूपान्तरित हो जाते हैं। किसी प्रकृति की स्थिति व अनुभाग का घटना (अपवर्तन) बढ़ना (उद्वर्तन) भी स्थिति, संक्रमण व अनुभाग संक्रमण के ही रूप हैं।

संक्रमण करण का उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टतः इस सत्य को उद्घाटित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कर्म बांधे हों यदि वह वर्तमान में दुष्प्रवृत्तियां कर बुरे (पाप) कर्म बान्ध रहा है तो पहले के अच्छे (पुण्य) कर्म बुरे (पाप) कर्म में बदल जावेंगे, फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नहीं मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कर्म (पाप) किए हैं, बांधे हैं परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है तो वह अपने बुरे कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में कहें तो हम हमारे वर्तमान जीवन काल का सदुपयोग-दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य में बदल सकते हैं। इसकी हमें पूर्ण स्वाधीनता है तथा हमारे में सामर्थ्य भी है। इसे उदाहरण से समझें—

'क' एक व्यापारी है। 'ख' उसका प्रमुख ग्राहक है। 'क' को उससे विशेष लाभ होता है। 'क' के लोभ की पूर्ति होती है तथा 'ख' 'क' के व्यवहार की बहुत प्रशंसा करता है जिससे 'क' के मान की पुष्टि होती है। अतः 'क' का 'ख' के साथ लोभ और मान रूप घनिष्ठ सम्बन्ध या बन्ध है परन्तु 'क' ने 'ख' को लोभ वश असली माल के बजाय नकली माल दे दिया। इस धोखे का जब 'ख' को पता चला तो वह रुष्ट हो गया और उस पर 'क' की जो रकम उधार थी उसने उसे देने से मना कर दिया। गाली-गलोच कर 'क' का अपमान कर दिया। इससे 'क' को क्रोध आया। अब 'क' का 'ख' के प्रति लोभ व मान रूप जो राग का सम्बन्ध था वह क्रोध व द्वेष में रूपान्तरित-संक्रमित हो गया।

नियम :

(१) प्रकृति संक्रमण बध्यमान प्रकृति में ही होता है।

(२) संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही होता है।

नोट : १. उद्वेलना संक्रमण, २. विध्यात संक्रमण, ३. अधःस्तन संक्रमण, ४. गुण संक्रमण, ५. सर्व संक्रमण आदि संक्रमण के अनेक भेद-प्रभेद कर्म शास्त्रों में कहे गये हैं, विस्तार भय से यहाँ उसका वर्णन नहीं किया गया है।

७. उदीरणा करण :

बन्धे हुए कर्म का नियत काल में फल देने को उदय कहा जाता है और नियत काल के पहले कर्म के फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे आम बेचने वाला आमों को जल्दी पकाने के लिए पेड़ से तोड़कर भूसे आदि में दबा देता है जिससे आम समय से पूर्व जल्दी पक जाते हैं। इसी प्रकार जो कर्म समय पाकर उदय में आने वाले हैं अर्थात् अपना फल देने वाले हैं उनका प्रयत्न विशेष से किसी निमित्त से समय से पूर्व ही फल देकर नष्ट हो जाना उदीरणा है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार शरीर में स्थित कोई विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। उदाहरणार्थ—चेचक का टीका लगाने से चेचक का विकार समय से पहले ही अपना फल दे देता है। भविष्य में उससे छुटकारा मिल जाता है। वमन-रेचन (उल्टी या दस्त) द्वारा किए गए उपचार में शरीर का विकार निकाल कर रोग से समय से पूर्व ही मुक्ति पाई जा सकती है।

इसी प्रकार अन्तस्तल में स्थित कर्म की ग्रंथियों (बंधनों) को भी प्रयत्न से समय के पूर्व उदय में लाकर फल भोगा जा सकता है। वैसे तो कर्मों की उदीरणा प्राणी के द्वारा किए गए प्रयत्नों से अपनाए गए निमित्तों से सहज रूप में होती रहती है परन्तु अन्तरतम में अज्ञात-अगाध गहराई में छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करना कहा जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान भी उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान में इस प्रक्रिया से अवचेतन मन में स्थित मनोग्रंथियों का रेचन या वमन कराया जाता है। इसे मनोविश्लेषण पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति से अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन में प्रकट होती हैं, उदय होती हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मानव की अधिकतर शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों का कारण ये अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रंथियाँ ही हैं। जिनका संचय हमारे पहले के जीवन में हुआ है। जब ये ग्रन्थियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती हैं तो इनसे सम्बन्धित बीमारियाँ भी मिट जाती हैं। मानसिक चिकित्सा में इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अपने द्वारा पूर्व में हुए पापों या दोषों को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उनकी आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोष-दुष्कृत मिथ्या हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो देते हैं। यदि दोष प्रगाढ़ हो, भारी हो तो उनके नाश के लिए प्रायश्चित लिया जाता है। प्रतिक्रमण कर्मों की उदीरणा में बड़ा सहायक है। हम प्रतिक्रमण के उपयोग से अपने दुष्कर्मों की उदीरणा करते रहें तो कर्मों का संचय घटता जायेगा जिससे आरोग्य में वृद्धि होगी। जो शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य, समता, शान्ति एवं प्रसन्नता के रूप में प्रकट होगी।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उदीरणा की प्रक्रिया :

उदीरणा के लिए पहले शुभ-भावों से अपवर्तना करण द्वारा पूर्व में संचित कर्मों की स्थिति को घटा दिया जाता है। स्थिति घट जाने पर कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना में अपनी पूरी आयु भोगे बिना ही मर जाता है तो उसे अकाल मृत्यु कहा जाता है। इसका कारण आयु कर्म की स्थिति अपवर्तना करण द्वारा घटकर उदीरणा हो जाना ही है।

नियम :

(१) बिना अपवर्तन के उदीरणा नहीं होती है।

(२) उदीरणा किये कर्म उदय में आकर फल देते हैं।

(३) उदीरणा के उदय में आकर जितने कर्म कटते हैं (निर्जरित होते हैं) उदय में कषाय भाव की अधिकता होने से उनसे अनेक गुणे कर्म अधिक भी बन्ध सकते हैं।

८. उपशमना करण :

कर्म का उदय में आने के अयोग्य हो जाना उपशमना करण है। जिस प्रकार भूमि में स्थित पौधे वर्षा के जल से भूमि पर पपड़ी आ जाने से दब जाते हैं, बढ़ना रुक जाता है, प्रकट नहीं होते हैं। इसी प्रकार कर्मों को ज्ञान बल या संयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। इसे उपशमना करण कहते हैं। इससे तत्काल शान्ति मिलती है। जो आत्मशक्ति को प्रकट करने में सहायक होती है। अथवा जिस प्रकार शरीर में घाव हो जाने से या आपरेशन करने से पीड़ा या कष्ट होता है। उस कष्ट का अनुभव न हो इसके लिए इन्जेक्शन या दवाई दी जाती है जिससे पीड़ा या दर्द का शमन हो जाता है। घाव के विद्यमान रहने पर भी रोगी उसके परिणामस्वरूप उदय होने वाली वेदना से उस समय बचा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से कर्म प्रकृतियों के कुफल का शमन किया जाता है। यही उपशमना करण है। परन्तु जिस प्रकार इन्जेक्शन या दवा से दर्द का शमन रहने पर भी घाव भरता रहता है और घाव भरने का जो समय है वह घटता रहता है। इसी प्रकार कर्म-प्रकृतियों के फल-भोग का शमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग व प्रदेश घटता रह सकता है।

नियम : उपशमना करण मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में ही होता है।

करण-ज्ञान में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है। पुरानी बन्धी हुई प्रकृतियों पर उनका प्रभाव

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ता है और वे वर्तमान में बध्यमान प्रकृतियों के अनुरूप परिवर्तित हो जाती हैं। सीधे शब्दों में कहें तो वर्तमान में हमारी जो आदत बन रही है, पुरानी आदतें बदल कर उसी के अनुरूप हो जाती हैं। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे संसार को असार समझ कर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु बन गये थे। वे एक दिन साधुवेश में ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा में देखा। श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जाये। भगवान् ने फरमाया कि सातवीं नरक में जावें। कुछ देर बाद फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया छठी नर्क में जावें। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा बार-बार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नर्क से पांचवी नर्क में, चौथी नर्क में, तीसरी नर्क में, दूसरी नर्क में, पहली नर्क में जायें। फिर फरमाया प्रथम देवलोक में, दूसरे देवलोक में, क्रमशः बारहवें देवलोक में, नव ग्रेवयक में, अनुत्तर विमान में जावें। इतने में ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े थे। उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होंने राजर्षि की ओर संकेत करके कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार सम्भला कर यह राजा तो साधु बन गया और यहाँ ध्यान में खड़ा है। परन्तु इसके शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयंकर संग्राम हो रहा है, प्रजा पीड़ित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नहीं है। यह सुनते ही राजर्षि को रोष व जोश आया। होश-हवाश खो गया। उसके मन में उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध में जाऊँगा और शत्रु सेना का संहार कर विजय पाऊँगा। उसका धर्म-ध्यान रौद्र-ध्यान में संक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र, घोर हिंसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से वह सातवीं नर्क की गति का बंध करने लगा। ज्योंही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योंही उसने अपनी वेश-भूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने तो राजपाट त्याग कर संयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई संबंध नहीं। इस प्रकार उसने अपने आपको सम्भाला। उसका जोश-रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे-जैसे मंद होता गया, घटता गया, वैसे-वैसे नारकीय बन्धन भी घटता गया और सातवीं नर्क से घटकर क्रमशः पहली नर्क तक पहुंच गया। इसके साथ ही पूर्व में बन्धे सातवीं आदि नर्कों की बंध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नर्क में अपवर्तित हो गये। फिर भावों में और विशुद्धि आई। रोष-जोश शांत होकर संतोष में परिवर्तित हो गया तो राजर्षि देव गति का बन्ध करने लगा। इससे पूर्व ही में बन्धा नर्क गति का बन्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देव गति में रूपान्तरित हो गया, संक्रमित हो गया। फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावों में अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायों का उपशमन हुआ तो अनुत्तर विमान देवगति का बन्ध होने लगा। फिर भावों की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थितिघात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई और केवल-ज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्व बन्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुआ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ व दुःखद पाप कर्मों की बाँधे हुए उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों से शुभ कर्म बांधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान में अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ पाप कर्मों का बन्धन कर व पूर्व से बान्धे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दुःखद कर्मों के रूप में भी संक्रमित कर सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व में बन्धे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पड़ें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रकृतियों) के द्वारा पूर्व में बन्धे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने-बढ़ाने एवं क्षय करने में पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है। साधक पराक्रम करे तो प्रथम गुणस्थान से ऊँचा उठकर कर्मों का क्षय करता हुआ अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। □

कर्म के सवैये

तारों की ज्योति में चन्द्र छिपे नहीं, सूर्य छिपे नहीं बादल छाये।
इन्द्र की घोर से मोर छुपे नहीं, सर्प छिपे नहीं पूंगी बजाये।
जंग जुड़े रजपूत छुपे नहीं, दातार छुपे नहीं मांगन आये।
जोगी का वेष अनेक करो पर, कर्म छुपे न भभूति रमाए।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org